SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

रवीन्द्र नाथ टैगोर का चिन्तन और कला विद्या

आलोक कुमार बाउरी, शोधार्थी, शिक्षा विभाग, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय
साई नाथ विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
आलोक कुमार बाउरी, शोधार्थी
E-mail : kumaralock21@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 18/01/2025
Revised on : 19/03/2025
Accepted on : 28/03/2025
Overall Similarity : 00% on 20/03/2025

शोध सार

अपने चिन्तन धारा में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्वीकार किया है कि वर्तमान युग युरोपीय सभ्यता का युग है। चाहे जोर–जबरदस्ती से या चाहे सम्मोह से, इसने सारी पृथ्वी को वश में किया हुआ है। यह सभ्यता जगत् के जिस राष्ट्र को स्पर्श करती है उसकी आकृति में से उसका विशेषत्व खत्म हो जाता है। जब से जापान ने युरोप के विद्यालयों से शिक्षा लेना प्रारंभ किया तब से उसकी वेश–भूषा और उसकी जीवनयात्रा का बाह्यरूप भी परिवर्तित होने लगा। युद्ध प्रणाली और व्यवसाय प्रणाली सब देशों में एक जैसी होती जा रही है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि वे दोनों यंत्रमात्र ही हैं; और यंत्र तो सभी देशों में एक ही जैसा होगा किंतु मनुष्य का मन तो यंत्र नहीं है। मनुष्य की मानसिक प्रकृति उसकी वेष–भूषा, गृह–सज्जा, आचार–व्यवहार में अपने आपको प्रकाशित करती है। एक काल से अन्य काल में उसका परिवर्तन भी होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के पास से, ये कुछ चीजें उधार लेता है किंतु वह उन सब को अपना बना लेता है पर कुल मिलाकर उसका ढांचा ठीक ही रहता है। पृथ्वी पर सभी जगह मनुष्य के अपने मन के साथ उसकी अपनी तैयार की हुई मशीन की भयानक लड़ाई शुरू हो गयी है। मनुष्य के व्यवहार में आने वाली वस्तुओं के ऊपर उसके मन के स्वाक्षर कहीं भी दिखाई नहीं देते सब पर मशीन की छाप है। इन मशीनों के द्वारा बनाई वस्तुओं के बीच कहीं भी रूप–भेद नहीं है। सुलभता और सुविधा के प्रलोभन के कारण मनुष्य ने यह स्वीकार कर लिया है। इस प्रलोभन के कारण मनुष्य ने अपने मन के कृतत्व और अपनी सृष्टिशक्ति को अस्वीकार कर दिया। टैगोर ने इसे सुविधा की तुच्छ मज़दूरी लेकर मशीन का दासत्व स्वीकार करना नहीं तो और क्या कहेंगे? परदेह–जीवी और पराश्रित जीव जैसे स्वाश्रित शक्ति खो बैठता है, उसी तरह मशीन का आश्रित मनुष्य अपने मन का रुचि–स्वातंत्र्य खो रहा है। उसके नित्य

व्यवहार की सामग्री से उसका अपना सौंदर्यबोध प्रयोग करने का स्वाभाविक उद्यम निर्जीव और आलसी होता जा रहा है। युरोपीय सभ्यता की वह रुचि स्वातंत्र्य नाशक मरुवायु भारतीय शिल्प को करीब–करीब नष्ट कर चुकी है। टैगोर के चिन्तन धारा में कला विद्या के प्रति प्रखर प्रकाश डाला गया है।

मुख्य शब्द

कलाविद्या, सौंदर्यबोध, भारतीय शिल्प, संगीत.

प्रस्तावना

भारतीय कला एवं शिल्प पर दृष्टिपात करते हुए टैगोर ने माना है कि बहुकाल के अभ्यास के द्वारा जो नैपुण्य उत्कर्ष लाभ करता है, एक बार नष्ट होने से फिर खुशामद करने से या मूल्य देकर भी उसे वापस पाने का कोई रास्ता नहीं है। मनुष्य की उस दुर्लभ सामग्री को हम प्रायः खो बैठे हैं।

पक्षियों के सुंदर पंखों के लोभ से या स्वाभाविक हिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण युरोपियनों ने पृथ्वी से कितने ही सुंदर पक्षियों के वंश प्रायः समाप्त कर दिये हैं। ये पक्षी पृथ्वी की बहुयुग की साधना के धन हैं, मर जाने पर उन्हें कभी भी वापस पाया नहीं जा सकेंगा। मनुष्य की सृष्टि साधना के शिल्प भी इसी तरह बहुत तपस्या के फल है वे भी उतने ही सुकुमार हैं। युरोप उनका वध करके सारी मानव जाति को सजा दे रहा है। लौकालय में जो' सौंदर्य है उसे चिरनिवासित कर रहा है।

टैगोर ने यह स्वीकार किया है कि जो भी हो, जिस व्यवहार के क्षेत्र में मनुष्य को रुचि का पराभव सारें संसार में ही हो रही है, वहां भारत छुटकारा पायेगा, इसकी मैं आशा नहीं करता। जहां बाजार व्यापार होता है, वहाँ वाणिज्य लक्ष्मी के द्वारा ही सौंदर्य लक्ष्मी का और कल (मशीन) के द्वारा कला का अपमान हैं। वर्तमान युग के ललाट पर लिखा हुआ हैः

टैगोर ने कहा है कि मनुष्य अपनी अंतिम इच्छा को, अपने प्रेम को केवल अपने व्यवहार की वस्तुओं में ही प्रकट नहीं करता है, बल्कि उसकी चित्रकला, उसका संगीत ही उसे प्रकट करने के मुख्य साधन होते हैं। इसी के द्वारा ही देश अपने अपने अंतरावेग को बाहर का रूपदान करता है और उसे चिरंतन बनाकर आनेवाले युग को समर्पण करता है।

इस तथ्य को आगे बढ़ाते हुए टैगोर ने गंभीरता पुर्वक माना है कि मनुष्य की बुद्धिवृत्ति एक ऐसी चीज है जिसका तारतम्य जाति–विशेष में होता है किंतु उसमें प्रकार भेद नहीं होता। युक्ति का नियम सब देशों में एकसा ही होता है। जो वस्तुएँ प्रमाण करने के विषय होती हैं,' उनको प्रमाण करने की प्रणाली सर्वत्र ही समान होती है। भारतवर्ष के इतिहास को तथ्य विचार एक तरह से हो और इंगलैण्ड का अन्य तरह से, यह हो ही नहीं सकता। विज्ञान की पद्धति और उसका फल देश–देश में भिन्न होगा, यह भी असम्भव है, इसलिए युरोप जिस बुद्धिमूलक शिक्षा को सारी पृथ्वी को दें रहा है, वह सर्वत्र एक ही होंगी। टैगोर ने स्वीकार किया है कि मनुष्य पर मशीन हावी होने से भारत की मौलिकता स्वाभाविक कम होने लगेगी।

'किंतु हृदयवृत्ति के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को प्रकट करता है। इस व्यक्तित्व का वैचित्र्य रहेगा ही और रहना श्रेयकर भी है, इसे नष्ट करना आत्महत्या के समान है। इस हृदयवृत्ति का प्रकाश कला विद्या के सहारे ही होता है। सभ्य और असभ्य सभी देशों में इन कला विद्याओं पर देश के लोगों में प्रेम होता ही है। केवल हमारी शिक्षा व्यवस्था में ही कला विद्या का कोई स्थान नहीं है। उसके स्थान का जो गहरा महत्व है उसका बोध भी हमारे शिक्षित लोगों के मन में से चला गया है।

टैगोर ने स्वीकार करते हुए कहा है कि इसका मुख्य कारण हमारे देश में विद्या के अभाव के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी सीखने से नौकरी मिलेगी और राज सम्मान का मौका होगा, यह हमारे देश की शिक्षा को चला रही है। इस चिंता से कि कहीं बाद में लक्ष्य की साधना में चित्त–विक्षेप होगा, हमारे देश के लोग व्याकुल हैं। इस लक्ष्य को पाने के लिए देश के सबसे महत्वपूर्ण कल्याण का भी बलिदान करने में हमें संकोच नहीं होता।

अपने समकालीन तथ्यों के आलोक में टैगोर ने माना है कि अंग्रेज तो भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित, विज्ञान सभी सीख रहे हैं और उसके साथ–साथ संगीत, चित्रकला और अन्यान्य सभी कला विद्याएं सीख रहे हैं। इन सभी ललित कलाओं के द्वारा उनका पौरुष घट रहा है, ऐसा तो नहीं दीखता। संगीत निपुण है इसलिए जर्मन राष्ट्र शस्त्र चलाने में ढीला या विज्ञान में पीछे है, यह कौन कह सकता है? दरअसल आनंद–प्रकाश जीवनी शक्ति का ही प्रबलतर प्रकाश होता है। इसी आनंद–प्रकाश के पथ को खत्म कर देने से जीवनी शक्ति को ही क्षीण कर देना होता है। जो व्यक्ति लकड़ी का व्यापार करता है, वह मन में सोच सकता है कि वृक्ष के लिए उसके पत्ते फूल–फल आदि सभी शोभा की वस्तुएं हैं, वह सब शक्ति का अपव्यय है, असल में तो सारवान वस्तु केवल लकड़ी ही होती है। वह यह भूल जाता है कि यदि वनस्पति जगत में से फूल लुप्त हो जाये तो लकड़ी का भी तो उसी के साथ मरण हो जायगा। इसी तरह जो जाति आनंद लाभ करना भूल जाती है वह काम करना भी भूल जाती है। जापान के लोग काम करने में आलस्य नहीं करते, प्राण देने में निर्भय होते हैं, किंतु चेरी फूल के खिलने का सौंदर्यलाभ करने के लिए बच्चे–बूढ़ें सभी उत्सव मनाते हैं; और चित्रकला का परम मूल्य नहीं समझता है, ऐसा मूढ़ वहां कोई नहीं होगा।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में टैगोर ने गहरे रूप से कहा है कि पंडितगण हमारे देश में आनंद से डरते हैं, सौंदर्य उपभोग को चापल्य समझते हैं और कला विद्या को अपविद्या और काम में विघ्न डालने वाली चीज मानते हैं। यह हमारी गहरी पैठी हुई दीनता का ही लक्षण है। यह हमारी नैसर्गिक कर्मशक्ति को ही दुर्बल करता है। हमारे देश की शिक्षा के दारिद्रय् के लक्षण और फल हमारे शांतिनिकेतन के बालकों में भी दिखाई देते हैं। यहां के विद्यालय में संगीत और चित्रकला सिखाने की अच्छी व्यवस्था है। अधिकतर बच्चों में गाने और चित्र बनाने की स्वाभाविक शक्ति रहती है। जब तक वे नीचे की कक्षाओं में पढ़ते हैं तब तक उन्हें गाना और चित्रकला सिखाना कठिन नहीं होता। इनमें वे आनंद ही लेते हैं किंतु ऊपर की कक्षाओं में प्रवेश करते वक्त हमारे देश की शिक्षा का उद्देश्य वे समझने लगते हैं और उनकी अंतर्निहित दीनता उन पर आक्रमण करने लगती है तब से उनका मन परीक्षा की पढ़ाई के बाहर की इस शिक्षा के विरुद्ध मुड़ जाता है दूसरी विद्या के प्रति उनमें अश्रद्धा पैदा हो जाती है। इसका कारण है कि जो उदासीनता इन शिक्षाओं के प्रति समाज में है, यह थोड़ी उम्र होने पर विद्यार्थियों के मन में भी संचरित हो जाती है। यह केवल हमारे अभागे देश के अंतर और वाह्य दृश्य का लक्षण है।

टैगोर ने अपने अनुभवजन्य चिन्तन में स्वीकार किया है कि बाल्यकाल से ही अभागे भद्र समाज के लोग इस प्रकार कला–विद्या के स्पर्श से दूर रहे हैं। इससे देश की कितनी बड़ी क्षति होती है, इसे अनुभव करने की शक्ति भी वे खो बैठते हैं। कुछ दिनों से हमारे देश के कुछ चित्रकार युरोप की चित्रकला की नकल करना छोड़कर भारतीय चित्रकला का अनुसरण करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। उनका यह प्रयत्न विदेश में सराहनीय माना गया है, किंतु अपने देश में इतने काल तक उन्हें किस प्रकार अश्रद्धा और दुत्कार सहनी पड़ी है, सभी जानते हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे देश में चित्रकला कहकर कोई चीज है, यह हम जानते ही नहीं। हमें उस चित्रकला की शान को समझने की कोई शिक्षा मिली ही नहीं। युरोप की हल्की रुचि की चित्रकला के नमूने छोड़कर हम और कुछ नहीं देख पाये हैं और जिस प्रकार वहां की उच्च कोटि की चित्रकला हम देख नहीं पाये, उसी प्रकार वहां की कला आलोचना आदि भी सुन नहीं पाये इसीलिए युरोपीय चित्रकला को बारीकी से जांचने का उपाय भी हमारे हाथ में नहीं है।

इसी प्रकार टैगोर ने संगीत पर दृष्टिपात करते हुए कहा है कि संगीत की दुर्गति की बात भी एक बार देखें। कंसर्ट कहकर इस कांश क्रोंकारझंकृत (बैण्ड–बाजा) अत्याचार को मोहल्लों में संगीत कहकर स्वीकार कर लिया गया है, उस जैसी. बर्बरता और कुछ नहीं हो सकती। भारतीय संगीत का प्राण तो इसमें है ही नहीं, पर यदि इसे युरोपीय संगीत की नकल मानते हों, तो वह भी एक बड़ा अन्याय होगा। शादी–बारात या शोभा–यात्रा में बैण्ड के साथ शहनाई का धक्का लगाकर संगीत की जो महामारी पैदा करने को हम उत्सव का अंग मानने लगे हैं, वह क्या कभी संभव हो सकता था यदि हमारे हृदय में संगीत कला के प्रति थोड़ा भी प्रेम होता। देश के उत्थान की बात हम आजकल हमेशा ही करते हैं। हम सोचते हैं कि वह उत्थान केवल राजनैतिक आंदोलन, सभा की ही वस्तु है अभाव के क्रंदन में, यानि वह गरीब की प्रार्थना है। इस गहरे पैठे हुए भिखारीपन के कारण हम भूल गये हैं कि जहां

देश की संपदा निहित है वहीं देश का अपना गौरव सोया पड़ा है। वह संपदा जितनी उद्घाटित होगी उतना ही देश के गौरव का उत्थान होगा। हमारे नये उत्थान का उत्सव विलायती गोरे वाद्यों से अथवा देशीय संगीत के अस्थिपंजर तोड़ने वाली कुरूप बातों से संपन्न नहीं हो सकता। हमारे देश की निर्वासित लक्ष्मी को नया आवाहन देने के समय मंदिर द्वार पर जो अल्पना बनानी होगी, क्या उसका नमूना जर्मनी से संग्रह करके लाना होगा?

निष्कर्ष

रवीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन एवं दर्शन में भारतीय कला, प्राचीन विद्या, चित्रकला, शिल्पकला एवं संगीत को मौलिकता के साथ संरक्षित और संवर्धित करने की जरूरत है। सम्पूर्ण विश्व यदि मशीन पर निर्भर हो जाएगा तो विश्व के सभी देशों की शिक्षा एवं कला एक जैसा स्वरूप का हो जाएगा और क्षेत्र एवं राष्ट्र की मौलिकता समाप्त होने लगेगी। अतः भारतीयता को संरक्षित एवं सवंर्धित करने के लिए भारतीय ज्ञान परंपरा को अछुष्ण रखना नितांत आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. गुप्ता, रेनु (2014) *शिक्षा के सिद्धांत,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, 2014, पृ. 113–11।
2. माथुर, एस. एस. (2006) *शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 87–89।
3. पाण्डेय, राम शक्ल (2012) *शिक्षा के दार्शनिक सिद्धांत,* अग्रवाल, पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 7–8।
4. प्रसाद, देवी (1986) *रविन्द्रनाथ टैगोर (शिक्षा और चित्रकला),* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पृ. 70–73।
5. रुहेला, एस. पी. (2014) *शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 77–79।
6. सक्सेना, एन. आर. (2005) *स्वरुप शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत,* आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, पृ. 112–115।
7. सिंह, श्याम (2015) शिक्षा दर्शन, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 135–136।

****